ISSN - 2348-2397
APPROVED UGC CARE
SID

SHODH SARITA

SHODH SARITA
Vol. 7, Issue 27, July-September, 2020
Page Nos. 39-41

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

संत कवियों के 'सीकरी सो काम'

डॉ0 अनिल कुमार राय*

शोध सारांश

हिंदी की भक्ति साहित्य–परम्परा में संत काव्य की महत्ता अक्षुण्ण है। भारतीय विचार–पद्धति में भक्ति विषयक ज्ञान–मार्ग का निरूपण इस काव्य की सबसे बड़ी पहचान है। वैसे तो संत कवि विशुद्ध रूप से निर्गुणोपासक थे किंतु उपासना और साधना के क्रम में उनके द्वारा ब्रह्म को पूरी तरह निर्गुण नहीं रखा जा सकता था। उसमें दया, करुणा, क्षमा, आदि गुणों के आरोप के बिना भक्ति दुस्साध्य सी थी। इसके अतिरिक्त अपने देशकाल के सामाजिक–राजनीतिक यथार्थ और लोक–व्यवहार से विमुख होकर कुछ भी कहना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। यौगिक साधना, सामजिक यथार्थ एवं नीति आदि विषयों के वर्णन में संतों ने तत्कालीन शासन–व्यवस्था की पूरी पड़ताल की है। राजनीति एवं राज्य–व्यवस्था से इन कवियों का प्रत्यक्ष सरोकार भले ना हो, अपनी बात साधारण जन में सरलता से पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होंने इनसे असंख्य प्रतीक, रूपक और दृष्टांत अपनी वाणियों में ग्रहण किये हैं। फिर चाहे उनके काव्य का साधना–पक्ष हो, नीति पक्ष हो अथवा समाज–पक्ष, सर्वत्र इनकी परिव्याप्ति देखी जा सकती है।

Keywords : निर्गुण ब्रह्म, मध्यकालीन शासन–व्यवस्था, राजनीतिक तत्त्व, आध्यात्मिक साम्राज्य, अंतःसाधना–स्थल।

भक्ति साहित्य की ज्ञानाश्रयी शाखा का उदय चौदहवीं–पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ। यह भारतीय इतिहास का वह कालखंड है जिसमें समूचा उत्तर भारत राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत उथल–पुथल से भरा रहा। दसवीं शताब्दी के आखिरी वर्षों तक तुर्कों का भारत पर आक्रमण हो चुका था। भारतीय राजपूत राजाओं के परस्पर कलह तथा शत्रुता के कारण पृथ्वीराज चौहान की मोहम्मद गोरी के हाथों पराजय हुई थी। इसके पश्चात् भारत में तुर्कों की शासन–व्यवस्था स्थापित होने से लेकर शाहजहाँ के शासनकाल तक की अवधि में देश की सबसे बड़ी उपलब्धि यहाँ की केंद्रीय शासन–व्यवस्था रही। इसमें तुर्कों के पतन और मुगल शासन की स्थापना तक के बीच की अवधि नहीं है। शासकों द्वारा केंद्रीय शासन–व्यवस्था को सशक्त ढंग से चलाने के लिए केंद्रीय प्रशासन के साथ स्थानीय प्रशासन की भी व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार तुर्कों द्वारा स्थापित शासन–व्यवस्था को आगे के मुगल शासकों द्वारा कुछ और सुधारों के साथ अपनाया गया। इस युग में राज्य–विस्तार की लिप्सा के कारण निरंतर युद्ध होते रहे। साधारण जनता का राजनीति के प्रति न तो कोई सहानुभूति थी और न ही उसमें कोई रुचि। मध्यकाल में भारतीय गाँवों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। किसानों की स्थिति सबसे अधिक खराब थी। उनकी दुर्दशा को ही देखकर तुलसीदास को लिखना पड़ा था –'कलि बारहिं–बार दुकाल परै ,बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।'

भक्तिकालीन साहित्य विशुद्ध रूप से भक्ति–केंद्रित साहित्य है। कुंभनदास ने तो 'संतन को कहा सीकरी सो काम?/आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम' कहकर इस बात की घोषणा ही कर दी थी कि उन्हें तत्कालीन बादशाहों और उनकी बादशाहियत से कुछ भी लेना–देना नहीं है। अतः इनके काव्य में तत्कालीन राजनीतिक तत्त्व सीधे तौर पर नहीं आये हैं। किंतु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राजनीति समाज का एक महत्वपूर्ण ही नहीं अपितु अनिवार्य तत्त्व होता है। निर्गुण भक्ति साहित्य में यद्यपि सभी संत शासन–प्रशासन से बहुत दूर रहे फिर भी तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को अपनी वाणियों में उन्होंने यत्र–तत्र अभिव्यक्ति अवश्य दी है। उन्होंने जिस प्रकार के रूपकों और प्रतीकों को अपने काव्य में स्थान दिया है उनसे भी तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का बोध होता है। ज्ञानमार्गी संतों ने जिस आराध्य की उपासना की है वह निर्गुण निराकार ब्रह्म है। इसी के साथ उन्होंने जिस विचार की इमारत तैयार की वह 'कागद की लेखी' पर आधारित न होकर ऑखिन की देखी पर आधारित थी। उनकी दृष्टि में निगम–आगम की अपेक्षा अनुभव–ज्ञान अधिक काम का था। ये निर्गुणिए संत संसार को मिथ्या और तुच्छ समझते हैं। इन्होंने अविद्या से आवरित इस जगत से परे विद्या माया के एक विशाल साम्राज्य की परिकल्पना की है, जिसे ये आध्यात्मिक साम्राज्य के रूप में देखते हैं। इस साम्राज्य के बादशाह वे 'राम' है जो दशरथ–पुत्र नहीं है– 'दशरथ सुत तिहुं

*एसोसिएट प्रोफेसर – हिंदी–विभाग, श्यामलाल कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय

लोक बखाना राम नाम का मरम है आना'। इस आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश की पहली शर्त यह है कि साधक सांसारिकता से मुक्त हो। इस दुर्गम स्थान तक पहुँचाने में साधक की सहायता करने वाला गुरु है। गुरु के निर्देश से यहाँ पहुँचकर साधक बादशाह से एकरूपता प्राप्त कर स्वयं बादशाह बन सकता है। ज़ाहिर है कि उस युग में बादशाह का आसन सबसे बड़ा था। जिस प्रकार संतों के यहाँ साधना के स्तर पर आत्मा और ब्रह्म के एकमेव हो जाने का उल्लेख है उसी प्रकार उनके आध्यात्मिक साम्राज्य में शासक और शासित का भेद समाप्त हो जाता है। संतों के आध्यात्मिक साम्राज्य के राजा 'राम' हैं। यही कारण है कि संत अपने समकालीन राजाओं एवं सामंतों की तनिक भी परवाह नहीं करते। वे भलीभॉति यह जानते हैं कि किसी बादशाह के पास इतनी समृद्धि कहाँ, जो दरबार में आये याचक को मुँह माँगा दान दे सके। कबीर ने स्वयं कहा है कि यदि कुछ माँगना भी हो तो राजा राम से माँगिए। उनके यहाँ से कोई निराश नहीं लौटेगा––

जो जाचौं तो केवल राम। आन देव सूं नाहीं काम।

जाकैं सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कबिलास।

ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरैं। दुर्गा कोटि जाकै मर्दन करैं।

कोटि चंद्रमा गहैं चिराक, सूर तैंतीसूं जीमैं पाक।।

बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी नगरी क्षेत्रापाल।

दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभय पद माँगौ दान।[1]

कबीर आगे कहते हैं कि–'राजा राणा छत्रपति जरि भये भसम कौं कुरौ रे।' अर्थात् उस बादशाह का ऐसा आभामंडल है जिसके समक्ष समस्त राजा, राणा, राव, छत्रपति आदि जलकर राख का ढेर हो जाते हैं।

कबीर की तरह ही नानक भी कलियुगी राजाओं को तुच्छ मानते हैं। उनके अनुसार ये राजा अज्ञानता के बंधन में स्वयं बँधे हुए हैं। अहंकार में अंधे ये राजा केवल माया का संग्रह करना जानते हैं। वे यह नहीं जानते कि यह ठगिनी बहुरूपिया माया अंत तक न तो उनका साथ देगी और न ही उनके साथ जायेगी। वे लिखते हैं––

माइआ संचि राजे अहंकारी। माइआ साथ न चले पियारी।

माइआ ममता है बहुरंगी। बिनु नावै को साथि न संगी।[2]

संत मलूकदास ने भी सांसारिक राजाओं–नरेशों को रंक से तनिक भी अधिक मान्यता नहीं दी है। उन्होंने अपने अंदर प्राणों में बसने वाले राजा को ही तीनों लोकों का बादशाह माना है––

एक तुम्हें प्रभु चाहौं राज।

भूपति रंग संत नहीं पूछों, चरन तुम्हार संवारियो काज।

कहै मलूक मेरो प्रान रमइया, तीन लोक ऊपर सिरिताज।[3]

मध्यकालीन शासन–व्यवस्था में राजा के बाद सबसे बड़ा पद दीवान का होता था। वह राज्य का सबसे ताकतवर अधिकारी होता था। ज्ञानाश्रयी संतो को दीवान की ताक़त समेत अपने परिवेश का गहरा बोध था तभी तो कबीर दीवान को बादशाह के मातहत अंतिम फरियाद सुनाने वाला अधिकारी कहते हैं ––

कबीर हरि दीवान के, क्यूँकर पावे दादि।

पहली बुरा कमाइ करि, पीछे करैं फिलादि।।[4]

अर्थात् मनुष्य पहले तो बुरे कर्म करता है और जब उसकी सजा का वक्त आता है तो दीवान के आगे हाथ जोड़कर फरियाद करने लगता है। भूख और पेट की बात करते हुए संत सुंदरदास तो राज्य के तमाम पदाधिकारियों का एक वरीयता–अनुक्रम ही रख देते हैं। वे लिखते हैं––

पाजी पेट काज कोतवाल के अधीन होत, कोतवाल सु तौ सिकदार आगे लीन है।

सिकदार दीवान के पीछे लग्यौ डोले पुनि, दीवान हूँ जाइ पातिसाह आगे दीन है।[5]

अर्थात् सभी अपनी–अपनी क्षुधा–पूर्ति हेतु अपने से बड़े पदाधिकारियों के समक्ष करबद्ध प्रस्तुत हैं। नगर की सुरक्षा–व्यवस्था कोतवाल के अधीन होती थी। कोतवाल सिकदार के मातहत काम करता था। सिकदार के ऊपर दीवान का पद होता था तथा दीवान बादशाह के आगे हाथ जोड़े खड़ा रहता था। संत धर्मदास इन सबमें कोतवाल को सबसे बड़ा भ्रष्ट अधिकारी कहते हैं। वह स्वयं ही नगर के लिए खतरा होता था। जनता से सीधे तौर पर कोतवाल का संपर्क होता था अतः उसके अत्याचार की गाज भी सीधे जनता पर ही पड़ती थी। वे लिखते हैं ––

जग सोवत दिन रैन, मुसै घर आइ कै।

आपु भये कोतवाल भली विधि लूटि कै।[6]

मध्यकालीन भारत में लगान अथवा राजस्व–वसूली का जो भयावह और अमानवीय रूप था उसके प्रभाव को लगभग सभी भक्तिकालीन कवियों ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। पटवारी के द्वारा किसानों का जो बहुस्तरीय शोषण किया जा रहा था उसका यथार्थ–अंकन करते हुए कबीर लिखते हैं––

हरि के लोगा मोकौ नीति डसै पटवारी।

ऊपर भुजा करि मैं गुरु पहि पुकारा, तिन हौं लिया उबारी।[7]

मध्यकाल में देश का किसान शोषण व अत्याचार से सबसे अधिक पीड़ित था। राज्य के सभी पदाधिकारियों का अंतिम निशाना वही बनता था। इस संकट से त्रस्त होकर वह गाँव तक छोड़ने को विवश हो जाता था। बेशक इस प्रकार के वर्णनों का अपना आध्यात्मिक संदर्भ है, फिर भी यह दृश्य संतों के सामने का राजनीतिक–सामाजिक यथार्थ भी था। कबीर ने लिखा ––

अब न बसहु इह गाँव गुसाईं, तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम।

गाँव कु ठाकुर खेत कू नेपै, काइथ खरच न पारै।

जोरि जेवरी खेत पसारै, सब मिलि मोकौ मारै हो राम।

अब की बेर बकसि बंदे कौं, सब खेत करौ नबैरा ।।[8]

मध्यकालीन बादशाहों के निवास, उनकी सुरक्षा–व्यवस्था और सैन्य–व्यवस्था के तहत गढ़ और किलों का काफी महत्त्व

था। ज्ञानाश्रयी संतों के यहाँ आध्यात्मिक–यौगिक संघर्षों में अनेक प्रकार से इन गढ़ों का वर्णन किया गया है। कबीर ने लिखा है––

क्यूँ लीजै गढ़ लंका भाई, दोवर कोट अरु तेवड़ खाई।
दास कबीर चढ़ै गढ़ ऊपरि,राज दियौ अविनासी।[9]

यहाँ जिस गढ़ की बात कबीर कर रहे हैं वह बहुत भव्य, चाक–चौबंद गढ़ तक कबीर जैसा कोई विरला साधक ही पहुँच सकता है। ज्ञानाश्रयी शाखा के संतों ने ब्रह्म–साधना को कठिन संघर्षों से भरा हुआ बताया है। इसी संदर्भ में साधक को योद्धा मानते हुए उसके द्वारा प्रयुक्त अस्त्र–शस्त्रों का जगह–जगह पर स्वाभाविक उल्लेख किया गया है। कबीर की अनेक साखियों में मध्यकालीन योद्धाओं के बाण, तीर, धनुष, कमान आदि अस्त्रों का बहुत स्वाभाविक वर्णन हुआ है। अपने यहाँ उन्होंने जिस धनुष–बाण का वर्णन किया है उसके प्रहार से घायल व्यक्ति केवल अपनी पीड़ा का अनुभव ही कर सकता है। बाहर से वह घाव दिखायी नहीं देता। अतरू बहुत कठिन है इसका उपचार करना ––

राम भगति अनियाले तीर। जिहिं लागा सो जाने पीर।
तन–मन खोजौं चोट न पाऊँ। औषधि मूरि कहाँ घसि लाऊँ।[10]

तत्कालीन योद्धाओं और सैनिकों द्वारा प्रयुक्त तलवार की शक्ति से भी ये संत भलीभाँति परिचित थे। यही कारण है कि जहाँ–जहाँ साधना और अध्यात्म में लीन साधकों के संघर्ष का प्रसंग आया है इन संतों ने अंतःसाधना–स्थल को युद्धभूमि के रूप में व्यक्त किया है––

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतन चढ़ि असवारि।
ज्ञान खड्ग गहि काल सिरि, भली मचाई रारि।।[11]

कबीर की तरह ही संत दादू दयाल ने भी संघर्षशील साधक को शूरवीर कहकर संबोधित किया है। जो साधक साधना रूपी रणभूमि में अनवरत संघर्ष करता है उसे विजय अवश्य प्राप्त होती है। ईश्वर की प्राप्ति भी उसी साधक को होती है जो उसकी प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है। इस प्रक्रिया में ईश्वर–प्राप्ति के साथ ही काल का भय भी समाप्त हो जाता है––

सूरा जूझै खेत महँ, साईं सन्मुख आइ।
सूरे को साईं मिलै, तब दादू काल न खाइ।।[12]

कबीर और दादू की तरह नानक ने भी आध्यात्मिक संदर्भों में युद्ध का यथार्थ वर्णन किया है। नानक के युद्ध–वर्णन की खासियत यह है कि उनके यहाँ ऐतिहासिक घटनाएँ प्रतीकात्मक रूप में न आकर वास्तविक रूप में अंकित हुई हैं। बाबर के आक्रमण और उससे मची मार–काट को नानक ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। उन्होंने उसके हिंसात्मक प्रहारों से विचलित होकर अनेक छंदों की रचना की। क्षुब्ध होकर नानक ने बाबर को यम और स्वान तक कह कर संबोधित किया––''जमु करि मुगलु चढ़ाइया।''[13]

अपने सर्वाधिक प्रिय विषय निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने में भी संतों ने जगह–जगह राजाओं–बादशाहों और उनकी राज्य–व्यवस्था के विविध पक्षों का रूपकों, प्रतीकों एवं दृष्टांतों के रूप में उपयोग किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में रैदास के इसी प्रकार के एक पद का उल्लेख किया है–

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा, जैसा मानिए होइ न तैसा।
नरपति एक सिंहासन सोइया, सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइया, सो गति भई हमारी।[14]

इस प्रकार हिंदी की ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियों के मुख्य सरोकार भले ही आध्यात्मिक रहे हों, वे 'संतन को कहा सीकरी सो काम' की नीति पर चलकर राज्य, राजनीति और राजाओं से भले ही दूरी बनाये रहे हों, उस युग की राजनीति और राज्य–व्यवस्था उनके सामने की सच्चाई थी। इसकी प्रविष्टि उनके काव्य में चाहे–अनचाहे खूब हुई है। इसलिए राज्य–व्यवस्था और राजनीति के प्रतीकात्मक स्वरूप उनकी काव्य–चेतना में अपने अर्थ–गांभीर्य के साथ सहज रूप में विद्यमान हैं। इस दृष्टि से उनके काव्य की एक बड़ी उपलब्धि यह भी है कि इसमें साधकों की साधना और योद्धाओं की रणभूमि परस्पर मिलकर एकरूप हो गये हैं।

सन्दर्भ :–

1. डॉ. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, पद संख्या–340.
2. जयराम मिश्र, नानक वाणी, पृष्ठ–791.
3. मलूकदासजी की बानी, बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद पृष्ठ–5.
4. डॉ. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, पद संख्या–340.
5. डॉ. किशोरीलाल गुप्त (संपा.), सुंदर विलास, छंद–115.
6. धनी धरमदासजी की शब्दावली, बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, पृष्ठ–31.
7. डॉ. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली (परिशिष्ट), पद संख्या–30.
8. वही, पद संख्या–222.
9. डॉ. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, पद संख्या–359.
10. वही, पद संख्या–118.
11. वही, साखी, सूरा तन कौ अंग, 45/27.
12. दादू दयाल की बानी, भाग–1, बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, पृष्ठ–24.
13. महीप सिंह (संपा.), गुरु नानक, पृष्ठ–82.
14. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, 2011, पृष्ठ–77.